☐ डा० नन्दलाल जैन
[प्राध्यापक, रसायनशास्त्र विभाग,
गृह विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर]

ज्ञान, योग-सापेक्ष है, विज्ञान प्रयोग-सापेक्ष। वर्तमान युग प्रायोगिक सत्यापन का युग है। जैनदर्शन की आत्म-ज्ञान-सापेक्ष धारणाएँ विज्ञान की कसौटी पर कसने का एक स्वतन्त्र विचार-प्रधान प्रयत्न प्रस्तुत लेख में किया गया है।

आधुनिक विज्ञान और जैन मान्यताएँ

☐

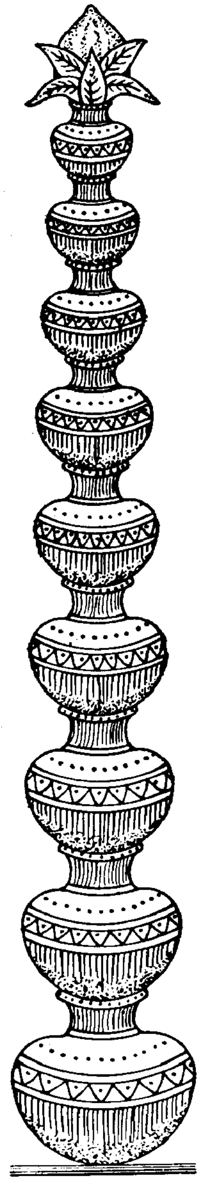

समीचीनता के अवयव : विचार और परीक्षण

परीक्षाप्रधानी स्वामी समंतभद्र ने संसार के दुःखों से त्राण देने वाले, उत्तम सुख को धारण कराने वाले तथा कर्म-मल को दूर करने वाले समीचीन साधन को धर्म बतलाया है। यद्यपि सुख-दुःख और कर्म-अकर्म के विषय में बुद्धि-जीवियों ने साधारण जन को अपने तर्क-वितर्कों से सदैव भूल-भूलैया में डालने का प्रयास किया है, पर समंतभद्र की उक्त परिभाषा का विश्लेषण बताता है कि विभिन्न गुणों से युक्त समीचीन माध्यम ही धर्म है। वस्तुतः समीचीन वह है जो मुक्तिप्रवण हो, सहज बोधगम्य हो एवं परीक्षणीय हो। पिछले तीन हजार वर्षों में वैचारिक पद्धति ही समीचीनता को निर्धारित करने का प्रमुख माध्यम रही है। धर्म और जीवन-सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों और प्रक्रियाओं के शास्त्रोक्त विवरणों में पर्याप्त सत्यान्वेषण-क्षमता, सूक्ष्म-दृष्टि एवं गहन-विचारपरता पाई जाती है। वास्तव में पाश्चात्य विचारकों ने जैनों को वर्गीकरण-विशारद एवं तीक्ष्ण बौद्धिक माना है। वैचारिक पद्धति में एक ओर जहाँ ज्ञान की गहनता पाई जाती है, वहीं दूसरी ओर कल्पना-शक्ति की सूक्ष्मता भी होती है। इस सूक्ष्मता की स्थूल परीक्षा संभव नहीं रही है, फलतः शास्त्रों को सर्वोच्च प्रमाण मानने की प्रवृत्ति का उदय हुआ। तत्त्वज्ञान के लिए आवश्यक प्रमाणों में शास्त्र-प्रमाण एक प्रमुख अवयव माना जाने लगा।

पिछले पाँच सौ वर्षों में सत्यान्वेषण का एक नया माध्यम सामने आया है, जिसमें तथ्यों एवं विचारों का प्रयोगों द्वारा सत्यापन किया जाता है। इनके विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी एवं अन्य सुग्राही उपकरणों की सज्जा की गई है। वस्तुतः वर्तमान युग प्रायोगिक सत्यापन का युग ही माना जाता है। इस युग में वैचारिक पद्धति की एकमात्र सत्यता पर काफी टीका-टिप्पणी हुई है और अब यह माना जाने लगा है कि वस्तुतः ये दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। जहाँ वैचारिक पद्धति में बुद्धि-चक्षु ही निपुण होते हैं, वहाँ प्रायोगिक पद्धति में चर्म-चक्षु या यन्त्र-चक्षु अपना करिश्मा प्रदर्शित करते हैं। ये यन्त्र-चक्षु अदृश्य या अमूर्त जगत् सम्बन्धी विचारों की समीचीनता की परीक्षा के लिए तो प्रयुक्त किये ही जा सकते हैं।

ज्ञान और दर्शन का समन्वय

वास्तव में, जैनदर्शन में जीव या चेतन को ज्ञान-दर्शन द्वारा अभिलक्षणित करने की बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेकिन ज्ञान और दर्शन की शास्त्रोक्त परिभाषायें व्यावहारिक मान्यताओं से एकदम मेल नहीं खाती हैं। वस्तुतः हमें ज्ञान को निराकार और दर्शन को साकार मानना चाहिए। इस दृष्टि से जहाँ ज्ञान वैचारिक पद्धति को निरूपित करता है वहाँ दर्शन प्रयोगात्मक पद्धति को निरूपित करेगा। फलतः वस्तु तत्त्व का ज्ञान इन दोनों पद्धतियों के समन्वय

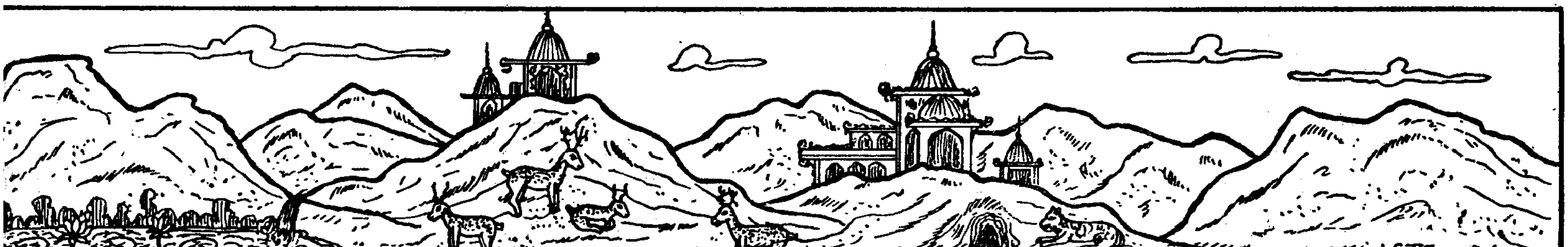

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्राप्त होता है। यदि शास्त्रोक्त 'ज्ञान' की परिभाषा ही सही मानी जावे, तो भी दर्शन बौद्धिक पद्धति को निरूपित करेगा और 'ज्ञान' प्रयोगात्मक पद्धति को। इस दृष्टि से जैनदर्शन का 'ज्ञान' शब्द आज के 'विज्ञान' शब्द का पर्याय-वाची बन जाता है। लेकिन धर्मसम्मत 'ज्ञान' को त्रैकाल्य-प्रामाणिकता दी गई है, जो विज्ञान नहीं मानता है।

अन्तर्द्वन्द्व और वैज्ञानिक कसौटी

धार्मिक मान्यता के अनुसार हम अवसर्पिणी युग में चल रहे हैं और हमारी प्रगति नकारात्मक हो रही है। यह तथ्य आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही सही बैठता है, भौतिक दृष्टि से तो यह युग प्रगति की सीमाओं को स्पर्श करता प्रतीत होता है। पिछले पाँच हजार वर्ष का इतिहास इसका साक्षी है कि हम कैसे जंगलों से निकलकर नगरी-जीवन में आये। आज का साधारण-जन भी इस दुविधा में है कि वह अपने इस विकास को प्रगति कहे या अवनति? तभी उसे ध्यान आता है—साकार ज्ञान। वास्तविक ज्ञान तो वह है जो प्रयोगसिद्ध तथ्यों के आधार पर किया जाये। हमारे शास्त्रोक्त ज्ञान की प्रामाणिकता भी आज प्रायोगिक कसौटी पर खरे उतरने पर निर्भर हो गई है। वस्तुतः जो दार्श-निक सिद्धान्त प्रायोगिक तथ्यों के जितने ही निकटतम होंगे, वे उतने ही प्रामाणिक माने जायेंगे।

वैज्ञानिक वृद्धि और प्रयोगकला के विकास के समय ऐसे बहुत से तथ्यों का पता चला जो पूर्व और पश्चिम के दर्शनों से मेल नहीं खाते थे। उदाहरणार्थ, 'चतुर्भूतमयं-जगत्' का सिद्धान्त लेवोशिये के समय में पूर्णतः असत्य सिद्ध हो गया—जब यह पता चला कि जल तत्त्व नहीं है, हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक है। वायु तत्त्व नहीं है, वह नाइट्रोजन, आक्सीजन आदि का मिश्रण है। अग्नि तत्त्व नहीं है, वह तो रासायनिक क्रियाओं में उत्पन्न ऊष्मा है। पृथ्वी भी तत्त्व नहीं है, यौगिक और मिश्रणों का विविध प्रकार का समुच्चय है। सूर्य-पृथ्वी की सापेक्ष-गति के विषय में भी पूर्व-प्रचलित मत भ्रामक सिद्ध हुआ है और अब यह माना जाता है कि पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं (जैनमत के अनुसार सूर्य आदि ग्रह मेरु (पृथ्वी) की प्रदक्षिणा करते हैं)। अजीव से जीव की उत्पत्ति सम्बन्धी संमूर्च्छन जन्मवाद भी पाश्चर के प्रयोगों से समाप्त हो गया है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में परमाणुओं की अविभागित्व एवं अविनाशित्व सम्बन्धी मान्यतायें भी त्रुटिपूर्ण प्रमाणित हो गईं। इन वैज्ञानिक तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोग-प्रमाणित विचार ही समीचीनता के निदर्शक हो सकते हैं। अन्य विचारों को हमें तत्कालीन तथ्यों एवं मान्य-ताओं के रूप में ही स्वीकार करना होगा, समीचीन ज्ञान के रूप में नहीं।

उपर्युक्त उदाहरण प्रायः भौतिक जगत् से सम्बन्धित हैं जो प्रयोगसिद्ध नहीं पाये गये हैं। इनसे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि हमारे शास्त्रों का भौतिक जगत्-सम्बन्धी समस्त विवरण ही त्रुटिपूर्ण है। जैनदर्शन के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो विज्ञान की कसौटी पर आज भी खरे उतर रहे हैं और संभवतः वे त्रिकालाबाधित सत्य बने रहेंगे। वस्तुतः जीवन या जगत् के दो मूलभूत पक्ष होते हैं—नैतिक और भौतिक। धर्म के भी दो पक्ष हैं—आचार और विचार। नैतिक विचारों की त्रिकालाबाधितता संभव हो सकती है, पर भौतिक तत्त्वों और आचारों में देशकालादि की अपेक्षा सदैव परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं रूपान्तरण होता रहता है। इन तत्त्वों को त्रिकालाबाधित रूप में सत्य नहीं माना जा सकता। महावीर के उपदेशों में अवक्तव्यवाद, परमाणु और उनका बन्ध, जीववाद आदि कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जिनसे हमें उनकी गहन चिन्तन शक्ति एवं सूक्ष्म निरीक्षणक्षमता का भान होता है। ये मान्यताएँ पच्चीस सौ वर्ष बाद भी प्रयोग-सिद्ध बनी हुई हैं। इनके कारण हमें अपनी अन्य मान्यताओं को परखने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपाय

शास्त्रोक्त मान्यता के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आध्यात्मिक दृष्टि से तो केवल आत्मसापेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष माना जाता है। इन्द्रियों एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। वस्तुतः नन्दीसूत्र में इन्द्रिय ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना गया है जो लौकिक दृष्टि से उचित ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से आज विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म, अर्द्धसूक्ष्म एवं अन्य सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी आदि उपकरण भी ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो रहे हैं। चूंकि इन उपकरणों का शास्त्रों में नगण्य उल्लेख मिलता है, अतः शास्त्र-निर्माण-काल में उपकरणों के अभाव का अनुमान सहज हो जाता है। चूंकि इन्द्रियाँ तो स्थूलग्राही हैं, अतः सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान मन की सहायता से ही किया गया होगा। किसी भी ज्ञान की प्रामाणिकता उसके अविसंवादित्व, अपूर्वार्थग्राहित्व या ग्रहीतग्राहित्व आदि गुणों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण होती है, जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम (परोक्ष) सहायक होते हैं। आज उपकरणों के द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के कारण प्राचीन ज्ञान में काफी विसंवाद प्रतीत होने लगा है, अतएव उसकी प्रामाणिकता में सन्देह होना अस्वाभाविक नहीं है।

शास्त्रों में इन्द्रियों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की जो प्रक्रिया बताई गई है, वह नितान्त वैज्ञानिक है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा वैज्ञानिक पद्धति में भी प्रारम्भ में प्रयोग किये जाते हैं। उनमें विभिन्न प्रकार से सूक्ष्म और स्थूल निरीक्षण किये जाते हैं। पुरातनकाल में प्रयोगों की परम्परा तो नहीं रही, पर प्रकृति निरीक्षण खूब होता था। इन निरीक्षणों को अवग्रह कहा जा सकता है। इन निरीक्षणों में नियमिततायें देखना और अनुमान करना 'ईहा' ही है। इन नियमितताओं को संकल्पना कहा जाता है। इन नियमितताओं की व्यापकता का ज्ञान इन्हें सिद्धान्त या अवाय बना देता है। जब ये नियमिततायें सार्वत्रिक होती हैं, तो वे नियम बन जाती हैं। विज्ञान की प्रक्रिया में स्वयं के समान दूसरों के प्रयोग और निरीक्षण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। वस्तुतः विज्ञान की प्रगति का मूल कारण दूसरों के प्रयोगों, निरीक्षणों व निष्कर्षों की प्रामाणिकता ही है, जिसके आधार पर आगे के प्रयोग किये जाते हैं। कभी-कभी नये प्रयोगों में पुराने निष्कर्षों का अविसंवादित्व भी खतरे में पड़ जाता है। फलतः नये तथ्यपूर्ण परिणामों के अनुरूप निष्कर्ष स्थिर किये जाते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया पूर्व ज्ञान को समुचित महत्त्व देती हुई ज्ञान की मशाल को नित नये क्षितिजों में पहुँचाती है।

आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य शास्त्र-वर्णित ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से ही प्राप्त किया प्रतीत होता है। उपकरणों की सहायता से इन्द्रियज्ञान के निष्कर्षों में काफी परिवर्तन की आवश्यकता हुई है। हम यहाँ एक सामान्य उदाहरण ले सकते हैं, इन्द्रियों की प्राप्यकारिता। यह माना जाता है कि चक्षु को छोड़कर सभी इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्यकारित्व के कारण होता है। वस्तुतः चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय की स्थिति लगभग एक-सी है। जैसे चक्षु दृश्य पदार्थ के पास पहुँचकर उसका ज्ञान नहीं करती, वैसे ही श्रोत्र भी शब्दोत्पत्ति के स्थान तक पहुँचकर उसका ज्ञान नहीं करता। जैसे कोलाहल के समय शब्दों के श्रवण की अस्पष्टता होती है, वैसे ही अगणित दृश्य पदार्थों की उपस्थिति में चक्षु भी यथार्थ रूप से सभी पदार्थ नहीं देख पाती। सूक्ष्मान्तरित दूरार्थ वस्तुओं की चक्षुग्राहिता जैसे भिन्न-भिन्न कोटि की होती है, वैसे ही शब्दों की स्थिति है। जैसे कान में शब्दोत्पत्ति कान में विद्यमान झिल्लियों के अनुरूपी कम्पनों के कारण होती है, वैसे ही चक्षु द्वारा रूपादि का ज्ञान भी पदार्थ द्वारा व्यवहित किरणों के चाक्षुष कैमरे पर पड़ने के बाद ही होता है। आंतरिक कम्पनों के बिना न शब्द सुनाई पड़ सकता है और वस्तु द्वारा प्रक्षिप्त प्रकाश किरणों के बिना न रूपादि का ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार चक्षु और श्रोत्र की प्रक्रिया बिलकुल एक-सी है। फिर भी, एक को प्राप्यकारी माना गया है और दूसरे को अप्राप्यकारी। इसका कारण स्पष्ट है कि शब्द के सम्बन्ध में कानों में होने वाले कम्पन किंचित् अनुभवगम्य हैं। वे भौतिक हैं, अतः इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। रूपादि के ज्ञान में प्रकाश किरण का प्रभाव सापेक्षतः सूक्ष्मतर कोटि का होता है, अतः अनुभव या प्रतीतिगम्य नहीं होता। इसलिए इसे अप्राप्यकारी कह दिया गया।

ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार अविसंवादिता को माना गया है। यह दो प्रकार से आ सकती है—स्वतः और परतः। जैनदर्शन का यह मत समीचीन लगता है कि ज्ञान की मूल प्रामाणिकता परतः ही होती है। इसके लिए पुरातन ज्ञान एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त निष्कर्ष सहायक होते हैं। इस तथ्य का फलितार्थ यह है कि मानसिक एवं मात्र बौद्धिक विचारों को प्रयोग (परतः) संपुष्ट होने पर ही प्रामाणिकता प्राप्त होनी चाहिए। ज्ञान और प्रमाणों के सम्बन्ध में जैन मान्यतायें अन्य मान्यताओं से प्रगतिशील अवश्य हैं, फिर भी उनके पुनर्मूल्यांकन का काम अत्यावश्यक है। आगे के पृष्ठों में प्रयोग संपुष्ट तथ्यों के आलोक में कुछ शास्त्रीय मान्यताओं के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

संसार के मूल तत्त्व

जैन मान्यता के अनुसार संसार के मूलतः सात तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तत्त्वों का यह वर्गीकरण जीवन के नैतिक विकास के दृष्टिकोण से किया गया है। वही धर्म का लक्ष्य है। यह वर्गीकरण वस्तुतः तीन मूल तत्त्वों के विस्तार के कारण है : जीव, अजीव और जीव-विकास (मोक्ष)। आस्रव और बन्ध जीव-विकास के बाधक तत्त्व हैं और संवर एवं निर्जरा जीव-विकास के साधक तत्त्व हैं। विकास के साधक और बाधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वों के विषय में जैनों की मूल मान्यता वस्तुतः अचरजकारी है, लेकिन ऐसा लगता है कि विज्ञान उसे सिद्ध करता प्रतीत होता है। मस्तिष्क-लहरियों के ज्ञान ने कर्म-परमाणुओं की भौतिकता की बात को सिद्ध कर दिया है। अब केवल इस प्रश्न का उत्तर देना है कि ये कर्म परमाणु कणात्मक हैं या ऊर्जात्मक हैं। ऊर्जा सूक्ष्मतर होती है। ये परमाणु ही विकास के निरोधक और साधक हैं। जीव सम्बन्धी भौतिक वर्गीकरण और निरूपण वर्तमान तथ्यों की तुलना में काफी विसंवादी लगने लगा है। इसी प्रकार अजीव के सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट है कि अमूर्त द्रव्यों की बात तो काफी वैज्ञानिक सिद्ध हुई है, पर मूर्त जगत् की बातों में आज की दृष्टि से पर्याप्त अपूर्णता या त्रुटिपूर्णता लक्षित हो रही है। हम पहले जीव और अजीव सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करेंगे।

वस्तु और द्रव्यमान संरक्षण नियम

जैनदर्शन में वस्तु को उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यत्व से युक्त माना गया है। इनमें उत्पाद-व्यय उसके परिवर्तनशील गुणों को निरूपित करते हैं और ध्रौव्यत्व वस्तु में विद्यमान द्रव्य की अविनाशिता को व्यक्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। मूल द्रव्य अविनाशी या नित्य रहता है, उसकी संयोगवियोगादि से पर्याय बदलती रहती है। मूल द्रव्य का यह अविनाशित्व लोमन्सोफ और लेवोशिये के द्रव्यमान-संरक्षण नियम का ही एक रूप है। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार ऊर्जायें (ऊष्मा, प्रकाश आदि) भी पौद्गलिक हैं। अतः द्रव्य के ध्रौव्यत्व के अन्तर्गत द्रव्यमान एवं ऊर्जा—दोनों के ही संरक्षण की बात स्वयमेव समाहित हो जाती है, लेकिन लेवोशिये के नियम में इन दोनों के संयुक्त संरक्षण की बात आइन्स्टीन के ऊर्जा-द्रव्यमान रूपान्तरण-सिद्धान्त की प्रस्तावना के बाद ही (बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में) आई है। इस संरक्षण नियम में भी यही बताया गया है कि निरन्तर परिवर्तनों के बावजूद भी मूल द्रव्य के द्रव्यमान और ऊर्जा में कोई परिवर्तन नहीं होता। वर्तमान में परमाणविक विखण्डन-क्रियाओं एवं तीव्रगामी किरणों की बमबारी की क्रियाओं में यह देखा गया है कि यूरेनियम या रेडियम आदि तत्त्व-द्रव्य द्रव्यान्तरित होकर नये तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं। यह तथ्य 'समयसार' के उस मंतव्य से मेल नहीं खाता जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके बावजूद भी यदि द्रव्य ध्रौव्यत्व से हम द्रव्यमान (भार) के ध्रौव्यत्व का अर्थ ग्रहण करें, तो उसकी अविनाशिता तो बनी ही रहती है। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व-वाद, सत्कार्यवाद या कारण-कार्यवाद का ही एक अनुगत फल है, जिसे वैज्ञानिक संपोषण प्राप्त है।

वस्तुस्वरूप का कारण—परमाणुवाद

जैनमत में दृश्यमान भौतिक जगत् को परमाणुमय एवं पौद्गलिक माना है। परमाणु की प्रकृति पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है और उसके कार्यों पर भी विशद प्रकाश डाला गया है। परमाणु अविभागी, अविनाशी, अशब्द, मूर्तिक (पंचगुणी), विविक्त एवं इन्द्रिय-अग्राह्य होते हैं। वे लघुतम कण सदा गतिशील होते हैं। इनमें भार एवं कठोरता का गुण नहीं पाया जाता।

इन लक्षणों में परमाणु की विविक्तता या खोखलापन, गतिशीलता एवं मूर्तिकता वैज्ञानिक तथ्यों से सिद्ध हो चुके हैं। यद्यपि सामान्य इन्द्रियों से परमाणु अब भी अग्राह्य है, फिर भी यांत्रिक इन्द्रियों एवं उपकरणों से उसे भली प्रकार जाँच लिया गया है। अब परमाणु में अविभाजित्व, अविनाशित्व एवं भारहीनता नहीं मानी जाती। कुछ लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परमाणु के वर्तमान मौलिक अवयवों को जैनों का परमाणु मानना चाहिए, लेकिन यह ठीक नहीं प्रतीत होता। परमाणुवाद की धारणायें ईसापूर्व सदियों में विश्व के विभिन्न कोनों में व्याप्त थीं और सभी में इन्द्रिय-अग्राह्य अति सूक्ष्म द्रव्य को परमाणु माना गया है। उस समय इससे अधिक की बात नहीं सोची जा सकती थी। हाँ जैनसम्मत परमाणु में कुछ अन्य विशेषतायें मानी गई हैं जैसे परमाणु का ठोस न होकर खोखला होना और संकुचन-प्रसारगुणी होना। गतिशीलता भी ऐसा ही विशिष्ट गुण है। परमाणुओं में शीत-उष्णता एवं स्निग्ध-रुक्षता उनकी गतिशील प्रकृति के परिणाम हैं। ये उन्हें वैद्युत-प्रकृति देते हैं जो उनके विविध संयोगों का मूल है। परमाणु के ये गुण जैन दार्शनिकों की तीक्ष्ण निरीक्षण एवं चिन्तन शक्ति को प्रकट करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कंध-निर्माण के नियम : तीन प्रकार की संयोजकतायें

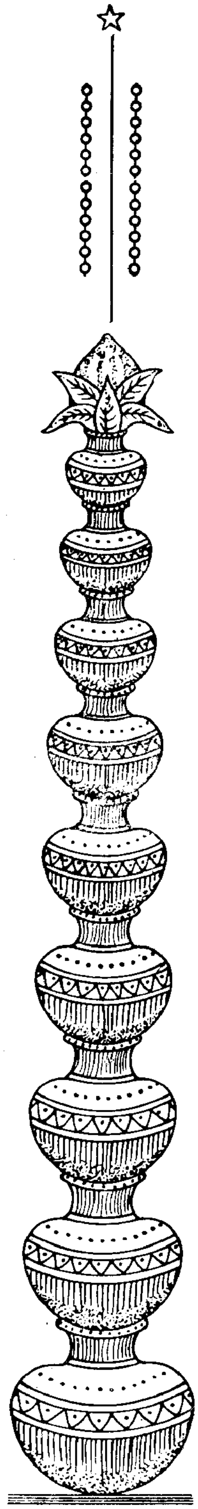

परमाणुओं के विविध प्रकार के संयोगों से स्कंधों का निर्माण होता है। ये स्कंध वर्तमान अणु के पर्यायवाची हैं। वस्तुतः परमाणुओं के अतिरिक्त बड़े स्कंधों के वियोजन (भेद) से भी छोटे स्कंध बनते हैं। छोटे स्कंधों के संयोजन (संपात) से बड़े स्कंध बनते हैं। संयोजन और वियोजन की इस प्रक्रिया की प्रवृत्ति के विषय में जैन दार्शनिकों के विचार संयोजकता-सिद्धान्त के पूर्णतः अनुरूप हैं। परमाणुओं की प्रकृति वैद्युत होती है और अपनी स्निग्धता और रूक्षता (धनात्मकता या ऋणात्मकता) के कारण वे परस्पर में संयोग करते हैं। इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थ-सूत्र के पाँचवें अध्याय के निम्न सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) **स्निग्धरूक्षत्वात्‌बंधः**—'सर्वार्थसिद्धि' में स्निग्ध और रूक्षत्व को विद्युत का मूल माना है। परमाणुओं का संयोग विषम वैद्युत प्रकृति के कारण होता है।

(२) **न जघन्यगुणानाम्**—जघन्य या शून्य वैद्युत-प्रकृति के परमाणुओं में बंध नहीं होता। आज की अक्रिय गैसों की अक्रियता जघन्य प्रकृति के कारण ही मानी जाती है। हाँ, यदि इन्हें सक्रिय कर दिया जावे, तो ये अल्प-सक्रिय हो सकती हैं।

(३) **गुणसाम्ये सदृशानां**—इस सूत्र के अर्थ के विषय में विवाद है। इसके अनुसार समान विद्युत प्रकृति के एक ही प्रकार के परमाणुओं में बंध नहीं होता। वस्तुतः यह देखा गया है कि हाइड्रोजन आदि तत्त्वों के दो परमाणु मिलकर उनके अणुओं का निर्माण करते हैं। वर्तमान मान्यता के अनुसार ऐसे संयोग दो परिस्थितियों में होते हैं : (१) सदृश-परमाणुओं का चक्रण या गतिशीलता विरुद्ध दिशा में हो और (२) इन परमाणुओं की वैद्युत-प्रकृति में साझेदारी की प्रवृत्ति पाई जावे। श्वेताम्बर परम्परा में तो बराबर वैद्युत प्रकृति के दो विसदृश परमाणुओं में बंध की मान्यता है, लेकिन दिगम्बर परम्परा इसे नहीं मानती। वस्तुतः यह बात स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण होने वाले बंध-सिद्धान्त के भी प्रतिकूल है।

(४) **द्व्यधिकादिगुणानां तु**—जब तुल्य या अतुल्य जातीय परमाणुओं की वैद्युत-प्रकृति में दो भागों का अन्तर होता है, तो उनमें बंध होता है। यह बंध पर्याप्त स्थायी होता है।

(५) **बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च**—बंध में अधिक विद्युतीय परमाणु अल्पविद्युतीय परमाणुओं को आत्मसात् कर नया पदार्थ बनाते हैं। वस्तुतः नये पदार्थ में न तो सफेद काले तंतुओं से बने वस्त्र के समान भिन्नता पाई जावेगी और न ही जल-सत्तू के समान एकता पाई जावेगी क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण भौतिक बंधों को निरूपित करते हैं, अणु-बंध को नहीं। भौतिक बंध के अवयव बड़ी सरल विधियों से पृथक् किये जा सकते हैं, अणु-बन्धों के अवयव अणुओं को भंजित किये बिना पृथक् नहीं हो सकते।

आधुनिक विज्ञान बंध के तीन प्रकार मानता है। विद्युत-संयोगी बंध स्निग्ध-रूक्षत्व-जन्म बंध का ही पर्याय है। द्व्यधिकादिगुण-जन्य बंध उप-सहयोगी बंध का पर्यायवाची है, जिसमें विद्युत-गुण-युग्म संयोग का कारण माना जाता है। तीसरे प्रकार के बंध को सह-संयोजक बंध कहा जाता है। इसमें समान विद्युतीय परमाणुओं में अथवा विसदृश परमाणुओं में एक विद्युत-गुण की साझेदारी संयोग का कारण मानी जाती है। यदि 'गुणसाम्ये सदृशानां बंधो भवति' माना जाये, तभी यह तीसरे प्रकार का बंध सही बैठता है। यदि यह न भी माना जावे, तो भी आज से बारह सौ वर्ष पूर्व परमाणुओं की वैद्युत प्रकृति की कल्पना और उसके आधार पर परमाणु-संयोगों का निरूपण जैन दार्शनिकों की प्रचण्ड तथ्यान्वेषण क्षमता का परिचायक है।

स्थूल रूप में यह बताया गया है कि अणुओं का निर्माण भेद (वियोजन और अपघटन), संघात (संयोजन) और भेद-संघात नामक तीन प्रक्रियाओं से होता है। इन तीनों को उपर्युक्त तीन प्रकार की संयोजनताओं के अनुरूप प्रदर्शित किया गया है, जो तथ्य को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करने के समान है। वस्तुतः इस स्थूल निर्माण प्रक्रिया में वस्तुओं की मूल प्रकृति का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

अनिश्चायकता और अवक्तव्यवाद

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने जैन-दार्शनिकों के अनेकान्तवाद को पर्याप्त बल प्रदान किया है।

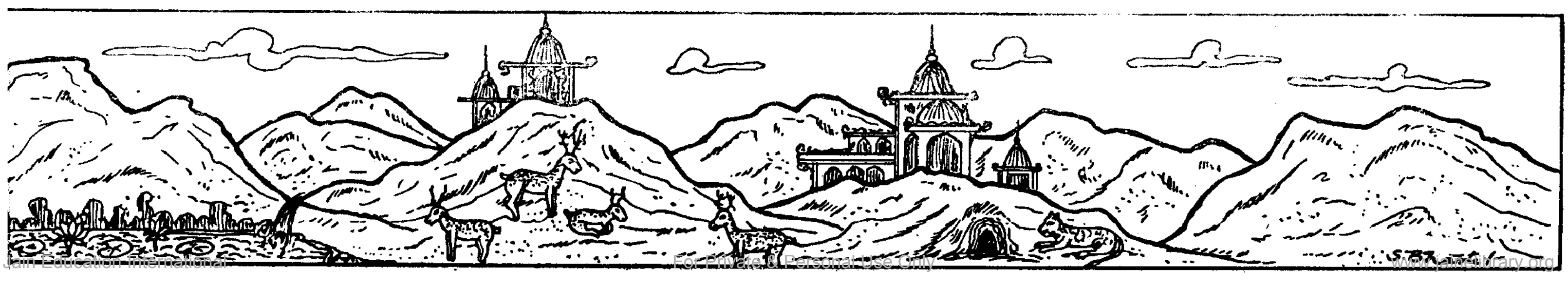

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सही है कि अनेकान्तवाद की प्रस्तावना दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व-विवेचन के लिए हुई थी, लेकिन वह भौतिक जगत् के मूलरूप की सही व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम है। विज्ञान अब यह मानता है कि निरपेक्ष कुछ भी नहीं है, सभी ज्ञान सापेक्ष है। अतः सापेक्षता के लिए कुछ मानक स्थिर किये जाते हैं। यह सापेक्षता सामान्य लोक-व्यवहार की सीमा को लांघ कर गणितीय रूप में सूक्ष्म तथ्यों के विवेचन में न केवल प्रयुक्त ही की गई है, अपितु इसकी सहायता से बहुत से अव्याख्यात तत्त्वों की व्याख्या भी की जा चुकी है। वस्तुतः वैचारिक पद्धति से विकसित अनेकान्तवाद बौद्धों के शून्यवाद एवं वैज्ञानिकों के सापेक्षवाद से भी श्रेष्ठतर तत्त्वज्ञानोपाय है। दृष्टिकोणों या मानकों की संख्या इतनी है कि वस्तु का स्वरूप परस्पर विरोधी धर्म-समागम के रूप में लक्षित होता है एवं निरपेक्ष रूप से उसे निरूपित करना कठिन हो जाता है। इसीलिए अनेकान्त के सात भंगों में अवक्तव्यता का समावेश हुआ है।

सापेक्षवाद पर आधारित विज्ञान ने वस्तु के मूल कण—इलैक्ट्रान—के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में जितने भी प्रयोग किये, उससे उसके अभिलक्षणन की जटिलता ही बढ़ी। उदाहरणार्थ, पहले जहाँ उसे कण माना जाता था, वहाँ वह तरंग माना जाने लगा। उसमें कण और तरंग दोनों के गुण पाये जाते हैं, अतः उसे तरंग-कण कहा जाने लगा। इतने पर भी उसका अभिलक्षण नहीं किया जा सका, क्योंकि वह इतना लघु है कि उस पर आँख की पलक मारने का भी प्रभाव पड़ता है। उसका भार $१०^{-२७}$ ग्राम है और आकार $१०^{-१७}$ से०मी० है। फलतः प्रायोगिक दृष्टि से उसका रंग, रूप, स्पर्श, स्थिति आदि कुछ भी नहीं निर्धारित किये जा सकते। अतः जर्मन-वैज्ञानिक हीसेनबर्ग ने अनिश्चायकतावाद की प्रस्तावना की, जिसके अनुसार वस्तु का मूल स्वरूप निश्चित रूप से नहीं निर्धारित किया जा सकता। जैनदर्शन का अवक्तव्यवाद इससे आगे जाता है। उसके अनुसार वस्तु को विभिन्न विवक्षाओं से निरूपित किया जा सकता है लेकिन निरपेक्ष रूप से वह अवक्तव्य ही है। उसका सही स्वरूप वचनों की सीमा में नहीं आता।

अवक्तव्यवाद के विषय में जगत् को बहुत कम ज्ञान है फिर भी इसका महत्त्व भौतिकशास्त्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। इस पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि एक बार अवक्तव्यत्व के अध्यारोपण से प्रयोग-सरणि की परम्परा में निराशावाद आ सकता है, लेकिन यह तो अनिश्चायकतावाद पर भी लागू होता है। वस्तुतः 'अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति' की विवक्षायें तो प्रयोग-सरणि को प्रोत्साहन ही देती हैं।

अवक्तव्यवाद न केवल भौतिक तत्त्वों पर ही प्रयुक्त होता है, नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए भी इसका सामाजिक और राष्ट्रीय उपयोग है। वस्तुतः यह सर्व-धर्म-समभाव एवं उदार दृष्टिकोण का प्रतीक है। यह एक-दूसरे के प्रति समादर एवं सद्भावना को जन्म देता है। संसार के विभिन्न दर्शनों में, विभिन्न प्रकरणों में, वस्तुओं में परस्पर विरोधी धर्मों का अस्तित्व तो प्रतिपादित किया गया है, लेकिन ऐसे सहअस्तित्व को जीवन में उतारने के लिए प्रेरणा नहीं दी गई है। जैनदर्शन इस क्षेत्र में अकेला ही दीपशिखा का काम करता है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

बीसवीं सदी की अप्रत्याशित वैज्ञानिक प्रगति के युग में कोई इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि आज जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्त पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ही विकसित कर लिये गये थे। विश्व में गति एवं स्थिति के माध्यम के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्य की बात इसी कोटि में आती है। ये माध्यम स्वयं निष्क्रिय हैं, अरूपी हैं और शाश्वत हैं लेकिन ये वस्तुओं के गमन और स्थगन में सहायक होते हैं। वस्तुतः वैज्ञानिकों ने देखा कि ध्वनि आदि प्राकृतिक ऊर्जायें किसी न किसी माध्यम में ही चलती हैं, शून्य में नहीं। लेकिन आकाश में कुछ ऊँचाई पर जाने के बाद वायु नहीं रहती। वह निर्वात स्थान है। फिर वहाँ कैसे इनका संचलन होगा? इसके लिए एक अक्रिय ईथर माध्यम की कल्पना की गई जो धर्म द्रव्य का अनुरूपी है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण एवं जड़ता के सिद्धान्त अधर्म द्रव्य के अनुरूपी है। इन द्रव्यों के अस्तित्व के लिए जल-मछली और छाया-पथिक का दृष्टान्त दिया जाता है जो बहुत ही उपयुक्त है। लेकिन इन दृष्टान्तों से इन द्रव्यों को मूर्तिक नहीं माना जाता। ये वस्तुतः अरूपी और अमूर्त हैं। ये बातें मिलर, माइकोलसन, न्यूटन और आइन्स्टीन के विचारों और प्रयोगों से सत्य सिद्ध हुई हैं। यह सही है कि गति माध्यम के रूप में ईथर को जिस प्रकार मान्यता मिली है, स्थिति माध्यम के रूप में गुरुत्वाकर्षण को उतनी स्पष्ट मान्यता नहीं मिली है, फिर भी सापेक्षवादी विचारधारा के अनुसार गुरुत्वाकर्षण ही अधर्म द्रव्य का अनुरूपी हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रयोग निश्चित स्थिति-माध्यम के अस्तित्व को प्रतिष्ठित करते हैं। वर्तमान में गति-माध्यम के रूप में प्रस्तावित ईथरवाद क्वान्टम सिद्धान्त के कारण तेजोहीन होता जा रहा है। इसलिए आज का वैज्ञानिक निश्चित रूप में इन माध्यमों को स्वीकृति देने में अपने को असमर्थ पाता है।

आकाश और काल द्रव्य

जैनदर्शन में प्रतिपादित छः मूल द्रव्यों में आकाश और काल की भी गणना है। समस्त द्रव्यों को अवगाहन देने वाला आकाश द्रव्य दो प्रकार का है—अन्य द्रव्यविहीन अलोकाकाश और द्रव्य-युक्त लोकाकाश। तिलों में तेल के समान धर्म-अधर्मादि द्रव्य लोकाकाश में औपचारिक रूप से व्याप्त रहते हैं। आधुनिक विज्ञान लोकाकाश को तो मान्यता देता प्रतीत होता है लेकिन अलोकाकाश के विषय में उसका निष्कर्ष नकारात्मक है।

प्रारम्भ में आकाश द्रव्य को गति-माध्यम के ईथर के समकक्ष मानने की बात चली थी क्योंकि उसे भी अमूर्तिक ही माना गया है। लेकिन अब यह स्पष्ट है कि आकाश और ईथर दो अलग द्रव्य हैं। आकाश में ईथर व्याप्त रहता है। जैन मान्यता के अनुसार आकाश अनन्त है लेकिन लोकाकाश सान्त है। विज्ञान के अनुसार लोक प्रसरणशील होते हुए भी सान्त है और उसके बाहर कुछ नहीं है। जैन मान्यता में विश्व की प्रसरणशीलता भी समाहित नहीं होती। लेकिन यदि प्रसरणशीलता की बात सत्य है, तो आकाश के जिस क्षेत्र में प्रसरण होता है, वही अलोकाकाश होगा। इस प्रकार आकाश-द्रव्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथ्यों के आलोक में पुनर्विचार की आवश्यकता है।

व्यवहार और निश्चय के रूप में काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। वस्तुतः वस्तुओं के उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यत्व का परिचायक काल ही है। अपने दैनिक जीवन में हम समय के महत्त्व से परिचित हैं। शास्त्रों के अनुसार काल केवल सहकारी कारण है, उपादान या निमित्त नहीं। यह स्वयं अक्रिय, अनेक एवं अपरिणामी है। अमूर्त होने के बावजूद भी लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में काल-परमाणु विद्यमान है। एक परमाणु दूसरे परमाणु के समीप जाने में जितना समय लेता है, वह काल का यूनिट कहलाता है। वस्तुतः कई दर्शनों और दार्शनिकों ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना है, वह सूर्य-चन्द्रादि की गति पर आधारित एक व्यवहार है। भूत, भविष्य और वर्तमान भी व्यवहार मात्र हैं। लेकिन जैन मान्यता काल को ऊर्ध्वप्रचयी आयाम के रूप में निरपेक्ष रूप में स्वीकृत करती है। चार आयामों के विश्व में चौथा आयाम काल ही माना गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से काल की द्रव्य रूप में सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, यद्यपि सभी प्रकार के व्यवहारों में काल के उपयोग के बिना काम नहीं चलता। 'कालाणु' की बात तो और भी जटिल प्रतीत होती है। वस्तुतः निश्चय काल को मान्यता नहीं है, व्यवहार काल को अवश्य ही मान्यता प्राप्त है। काल-द्रव्य सम्बन्धी समस्त विवरण के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सही निष्कर्ष निकालने की बड़ी आवश्यकता है। यह अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है कि श्वेताम्बर परम्परा में काल द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व पर विवाद है।

जीव-विज्ञान

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार चौरासी लाख योनियों में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव पाये जाते हैं। विज्ञान सभी योनियों या स्पीशीज की संख्या बीस लाख तक ला पाया है। कुछ लोगों ने स्पीशीज की संख्या एक करोड़ तक होने का अनुमान किया है। इससे अधिक योनियाँ वनस्पतिकायिकों की मानी गई हैं।

जीव को दो प्रकार से अभिलक्षणित किया गया है—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक लक्षणों में असंख्यात प्रदेशिकता, गतिशीलता, परिवर्तनशीलता, देहपरिमाणकता, कर्म-बंध और नानात्व समाहित है। अभौतिक लक्षणों में अविनाशित्व, अमूर्तत्व और चैतन्य का समावेश है। आधुनिक विज्ञान सभी भौतिक लक्षणों को स्वीकार करता है और वह तो चैतन्य को भी भौतिक ही मानता प्रतीत होता है। उसका कारण यह है कि रूस, अमरीका, ब्रिटेन और इटली के वैज्ञानिकों ने प्रयोगशालाओं में जीवित कोशिकाओं का संश्लेषण कर लिया है और उनके विकास व विनाश की सारी प्रक्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। परखनली में तैयार किये जाने वाले जीवों से भी चैतन्य की भौतिकता सत्यापित होती दिखती है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे चैतन्य एक प्रकार की क्रान्तिक ऊर्जा हो जो जीवन की जटिल संरचना के फलस्वरूप उत्पन्न होती हो। जीवन की प्रक्रिया अगणित भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं

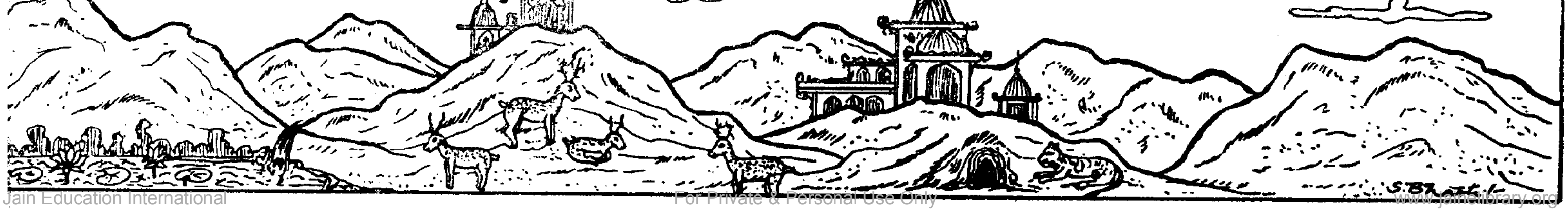

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समुच्चय है जिनमें आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न होती है। बहुत से वैज्ञानिक अपने द्वारा अन्वेषित इन तथ्यों पर स्वयं भी स्तब्ध हैं, क्योंकि उन्हें चैतन्य की भौतिकता पर विश्वास नहीं हो पा रहा है। यही नहीं, चैतन्य का अमूर्त अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अमरीका ने एक करोड़ रुपयों के पुरस्कार की घोषणा भी अभी हाल में की है।

चैतन्य भौतिक हो या अभौतिक, लेकिन वह जीवन का एक लक्षण माना जाता है। चैतन्य का विकास क्रमिक होता है और मानव सबसे उन्नत चेतन प्राणी है। चौदह कुलकरों का प्रकरण पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि संसार में जीवन क्रमशः विकसित हुआ है। परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न प्रकार के प्राणियों ने भूतल पर अवतार पाया है। विज्ञानियों का विकासवादी सिद्धान्त भी यही प्रदर्शित करता है। जैन-ग्रन्थों में निरूपित प्राणों और पर्याप्तियों का स्वरूप भी विकासवाद से मेल खाता है।

पंचेन्द्रिय जीवों को समनस्क और अमनस्क के रूप में दो प्रकार का बताया जाता है। वस्तुतः मन मस्तिष्क का कार्य है। यह देखा गया है कि प्रायः एकेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता, लेकिन अन्य जीवों में विभिन्न अवस्थाओं में मस्तिष्क पाया जाता है। फलतः विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय सभी जीव समनस्क होते हैं, केवल एकेन्द्रिय ही असंज्ञी और अमनस्क होते हैं। वस्तुतः वैज्ञानिक यह मानते हैं कि इंद्रिय और मन का विकास युगपत् ही होता है। जिन जीवों की इंद्रियाँ जितनी ही विकसित होंगी, उनका मन भी उतना ही विकसित होगा।

जीवों की आयु के विषय में शास्त्रों में बहुत चर्चा की गई है। प्रत्येक जीव आयु पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। वस्तुतः यह जीव की मृत्यु नहीं, अपितु शरीर का नाश है। जैनदर्शन के अनुसार जीव तो अनादि अनन्त है। शरीर धारण के कारण उसमें पर्यायान्तर मात्र होते रहते हैं। वैज्ञानिक लोग अभी तक जीवन को सादि और सांत मानते रहे हैं। लेकिन आनुवंशिकता की समस्या ने उसको परेशान कर रखा था। नवीन अनुसंधानों से पता चला है कि जीवन तत्त्व की कुछ कोशिकायें प्रजनन-प्रक्रिया में अगली पीढ़ी को बीज रूप में मिलती हैं। ये उत्तरोत्तर विकसित होकर उत्तरोत्तर पीढ़ियों में भी जाती हैं। क्या इन स्थानान्तरणीय कोशिकाओं को जैनमत में वर्णित सूक्ष्म-संस्कारी कर्म-परमाणु माना जा सकता है? कर्म-परमाणु भी कोशिकाओं के समान पौद्गलिक होते हैं। शास्त्रों में इन्हें इन्द्रिय अग्राही होने से अदृश्य एवं अति सूक्ष्म कहा गया है लेकिन सूक्ष्मदर्शियों से इन्हें देखा जा सकता है या नहीं, यह विचारणीय है और कोशिकायें तो दृश्य हैं। यदि कर्म-परमाणुओं को तरंग-कणिकता की सीमा में रखा जावे, तो उत्तेजनशीलता के कारण होने वाले परिस्पन्द जीव के साथ संयोग-वियोग का कारण बन सकते हैं। विज्ञान के अनुसार अतीन्द्रिय ज्ञान उक्त कोशिकाओं के फलस्वरूप ही सम्भव होता है। फलतः साधारण शरीर की तुलना में आनुवंशिक शरीर दीर्घकालिक होता है लेकिन यह दीर्घकाल अनंत नहीं है।

जैनदर्शन का नीतिशास्त्र

प्रायः सभी विद्वान यह मानते हैं कि धर्मों का प्रमुख लक्ष्य जीवन में नैतिक गुणों का विस्तार करना है। इन गुणों से ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है और उत्तम सुख प्राप्त होता है। धर्म को समग्र जीवन के समस्त अंगों की पद्धति मानने के कारण धर्मानुयायियों के जीवन में पर्याप्त दुरूहता आ गई है। जीवन के सभी अंगों में बीज रूप में धर्म सूत्र पिरोया रहे, यह बात सही है, पर जीवन गौण हो जावे और धर्म प्रमुख हो जावे, यह मानकर चलना संसारी जीवों के लिए बड़ी समस्या रही है। यह सही है कि जीवन के शुभोपयोग के लिए ही धर्म का महत्त्व है। भूगोल-खगोल आदि के ज्ञान का धर्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। शुभोपयोग के लिए जहाँ एक ओर विचारों की उत्तमता एवं सार्वभौमिकता अपेक्षित है, वहीं दूसरी ओर तदनुरूप प्रवर्तन भी उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। फलतः धर्म का प्रथम लक्ष्य स्व या व्यक्ति ही है। जो अपने विकास से अन्य व्यक्तियों या समाज को विकसित करने में सहायक होता है। संपुष्ट विचार ही क्रिया को प्रेरित करते हैं। फलतः नैतिक जीवन की आधारशिला के रूप में बौद्धिक विचार-सरणि ही प्रमुख है। इस विचार-सरणि के क्षेत्र में जैनदर्शन का अनूठा स्थान है, इसे विश्व के विभिन्न दार्शनिकों ने भी स्वीकृत किया है। यह अत्यंत युक्तियुक्त और मनोवैज्ञानिक है। इसमें पर्याप्त समीचीनता है।

जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के शक्तिशाली स्तम्भों पर खड़ा किया गया है, जो गणितीय रूप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तम जीवन=अहिंसा+अनेकान्त+अपरिग्रह=अ^3

इस सूत्र का फलितार्थ यह है कि जीवन के तीन कार्यकारी अंग हैं—मन, वचन और काया। इन तीनों की एकरूप परिणति सार्थक जीवन प्रदान करती है। विचारों में अहिंसा, वचनों में परस्पर विरोधी समागम की वाणी और क्रियाओं में स्वावलम्बनमूलक समुचित रूप से नियन्त्रित प्रवृत्तियाँ, एक दूसरे की पूरक और संसाधक हैं। इन तीनों से जीवन में जो पूर्णता आती है, वह इनके योग के बराबर नहीं, अपितु गुणनफल के बराबर होती है, क्योंकि पूर्णता सामान्य योग से कई गुणी होती है। जैनधर्म का कर्मवाद मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों पर ही आधारित है। इन प्रवृत्तियों से जो परिस्पन्द होते हैं, उनसे कर्म-परमाणुओं का आस्रव व बंध होता है। इंद्रिय, कषाय और अव्रतों से उत्पन्न होने वाली दर्शन स्पर्शनादि पच्चीस प्रकार की प्रवृत्तियाँ ही संसार के शुभाशुभ रूपों को प्रदर्शित करती हैं। अशुभ प्रवृत्तियों को कम करने या नियंत्रित करने के लिये अहिंसा आदि व्रतों एवं बाह्य एवं आभ्यन्तर तपों की प्रक्रिया अपनाई जाती हैं। वस्तुत ये प्रक्रियायें शरीर शुद्धि के माध्यम से भाव शुद्धि करती हैं और जीवन में उदारता एवं समता के भाव विकसित करती हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अन्तिम पांच अध्यायों में जीवन के नैतिक विकास के बाधक एवं साधक कारणों का सांगोपांग विवरण देखकर सहज ही पता चलता है कि जैनदर्शन में इस प्रक्रिया को कितने सूक्ष्मतम धरातल से विचार कर व्यक्त किया गया है। इस विवरण में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म की त्रिवेणी के संगम में व्यक्ति स्नान करता है और जीवन को कृतकृत्य बनाता है।

जीवन के नैतिक विकास में कर्मवाद व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाता है और अनेकांतवाद उसे उदार और सर्वधर्म-समभावी बनाता है। अपरिग्रहवाद व्यक्ति को इस प्रकार के प्रवर्तनों के लिए प्रेरित करता है जो समाज के सुख, समृद्धि व विकास के हित में हों। अपनी आवश्यकताओं को समाज के स्तर के अनुरूप सीमित रखना ही सच्चा अपरिग्रहवाद है। इस प्रकार जैनधर्म की विचार-सरणि व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास को प्रतिबिम्बित करती है जिससे अभिनवतम सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। वस्तुतः विश्व संघ का आदर्श लक्ष्य इन्हीं तीन अकारों पर आधारित है।

नये चिन्तन की आवश्यकता

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसे श्रेष्ठतर विचार-सरणि से अनुस्यूत धर्म के अंग के रूप में उन बातों का सामंजस्य कैसे होता है जो प्रयोगसिद्ध नहीं बन सकी हैं। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि धर्म-ग्रन्थों में नैतिक विचार और प्रक्रियाओं के अतिरिक्त जिन अन्य बातों का विवरण है, उसका समावेश धर्म की प्रतिष्ठा एवं महत्त्व को बढ़ाने के लिए किया गया होगा। वैज्ञानिक युग में धार्मिक आस्था को दृढ़ बनाने एवं मानव को नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूक बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस बात को स्पष्ट रूप से कहा जावे कि नैतिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य चर्चायें धर्म की अंग नहीं हैं। वे केवल तत्कालीन ज्ञान को प्रदर्शित करती हैं और प्रसंगवश ही धर्मग्रन्थों का अंग बन गई हैं। आज आधुनिक परिवेश में धर्मग्रन्थों के विवेचन की आवश्यकता है, जिनमें जीवन-विकास के सिद्धान्तों का निरूपण हो। ऐसा होने पर ही आज के व्यक्ति और समाज में धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो सकेगी।

●●

नोट—लेख में चर्चित सभी प्रश्नों एवं विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्र चिन्तन के क्षेत्र में लेखक का आह्वान मननीय है।

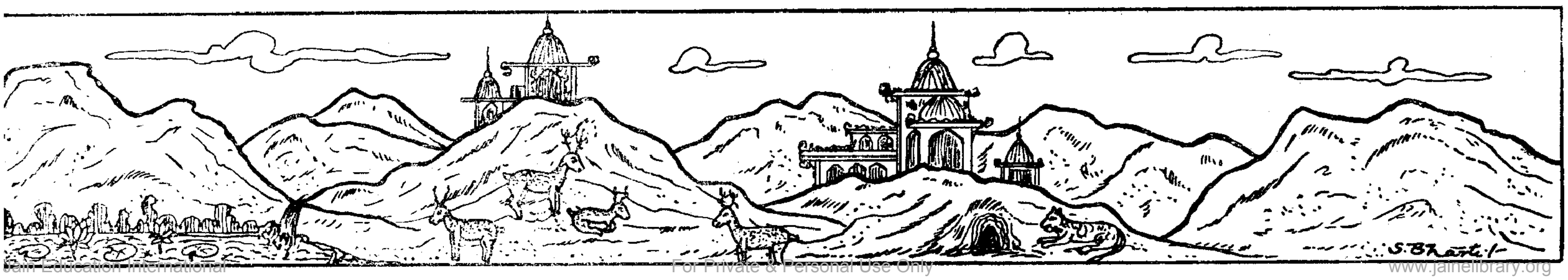

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org